IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

प्राचीन भारत में जल संसाधन प्रबंधन और पारंपरिक जल प्रणालियाँ : एक अवलोकन

डा. बीरेंद्रमणि त्रिपाठी
सह आचार्य,
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय प्रयागराज, (उ. प्र.)

सारांश

प्राचीन भारत में जल संसाधन प्रबंधन जीवन, कृषि और अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार था। भारतीय समाज ने वर्षा, नदियों, तालाबों, कुओं, झीलों और जलाशयों जैसे विभिन्न जल-स्रोतों के संरक्षण तथा उपयोग के लिए अनेक पारंपरिक प्रणालियाँ विकसित की थीं। इन व्यवस्थाओं का निर्माण स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों, जलवायु और वर्षा के स्वरूप को ध्यान में रखकर किया जाता था। तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, नहरें और जलाशय जल-संग्रह तथा सिंचाई के प्रमुख साधन थे। इनका उपयोग पेयजल, कृषि, पशुपालन और घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। वर्षा के जल को संचित करने के साथ-साथ कई प्रणालियाँ भूजल पुनर्भरण में भी सहायक थीं। इस प्रकार जल-संरक्षण और भूजल-प्रबंधन के बीच संतुलन स्थापित किया जाता था। पारंपरिक जल प्रणालियों में स्थानीय सामग्री और कम ऊर्जा वाली तकनीकों का प्रयोग किया जाता था। जल के प्रवाह और वितरण में गुरुत्वाकर्षण तथा प्राकृतिक ढाल का उपयोग किया जाता था। इनके निर्माण और रखरखाव में स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी रहती थी, जिससे जल-संसाधनों का सामूहिक प्रबंधन संभव होता था। इन प्रणालियों का कृषि-व्यवस्था से गहरा संबंध था। सिंचाई के माध्यम से कृषि उत्पादन को स्थिरता मिलती थी और सूखे के समय जल की उपलब्धता सुनिश्चित होती थी। वहीं, अतिरिक्त वर्षाजल के संग्रह और निकासी की व्यवस्था बाढ़ के प्रभाव को कम करने में सहायक थी। इस प्रकार प्राचीन भारत की पारंपरिक जल प्रणालियाँ पर्यावरणीय संतुलन, कृषि-समृद्धि और सतत जल प्रबंधन की विकसित परंपरा का परिचायक हैं।

मुख्य की-वर्ड्स: *प्राचीन भारत में जल संसाधन प्रबंधन, प्राचीन भारत की जल प्रबंधन प्रणाली, प्राचीन भारत में जल संरक्षण, प्राचीन भारत में जल संचयन, प्राचीन भारत में सिंचाई व्यवस्था, प्राचीन भारत की जल संरचनाएँ।*

प्रस्तावना

भारत में जल संसाधनों के संरक्षण और प्रबंधन की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। भारतीय उपमहाद्वीप की भौगोलिक विविधता—हिमालय के हिमाच्छादित क्षेत्रों से लेकर दक्कन के पठार, थार के शुष्क मरुस्थल और पूर्वोत्तर भारत के अत्यधिक वर्षा वाले क्षेत्रों तक—ने जल प्रबंधन की अनेक स्थानीय प्रणालियों को जन्म दिया। इन प्रणालियों का विकास स्थानीय जलवायु, भू-आकृति, मिट्टी, वर्षा की मात्रा और मौसमी जल उपलब्धता को ध्यान में रखकर हुआ। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जल संरक्षण केवल तकनीकी गतिविधि नहीं था, बल्कि कृषि, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, नगरीय जीवन,

धार्मिक परंपराओं और सामुदायिक संगठन से भी जुड़ा हुआ था। कुएँ, तालाब, जलाशय, बाँध, नहरें, बावड़ियाँ, झीलें और वर्षाजल संचयन की विभिन्न प्रणालियाँ इसके प्रमुख उदाहरण हैं। कई स्थानों पर जल संरचनाओं का निर्माण स्थानीय समुदायों, शासकों, धार्मिक संस्थाओं तथा दानदाताओं के सहयोग से किया जाता था।

भारत में पारंपरिक जल प्रणालियों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप विकसित की गई थीं। राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों में वर्षाजल को संग्रहित करने के लिए कुंड, नाड़ी और खड़ीन जैसी प्रणालियाँ विकसित हुईं, जबकि हिमालयी क्षेत्रों में हिमपिघलन और झरनों के जल को खेतों तक पहुँचाने के लिए कुल या कुहल जैसी प्रणालियाँ विकसित हुईं। इसी प्रकार दक्षिण भारत में एरी जैसी टैंक-आधारित सिंचाई प्रणालियों ने कृषि अर्थव्यवस्था को आधार प्रदान किया।

प्राचीन भारत में जल प्रबंधन के प्रारंभिक प्रमाण

भारत में सुनियोजित जल प्रबंधन के प्रारंभिक प्रमाण सिंधु या हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त होते हैं। हड़प्पा सभ्यता के नगरों में जल निकासी, कुओं, जलाशयों और स्नानागारों की विकसित व्यवस्था दिखाई देती है। मोहनजोदड़ो में विकसित जलनिकासी प्रणाली तथा सार्वजनिक स्नानागार इसके उल्लेखनीय उदाहरण हैं। धोलावीरा में जल-संग्रहण और जलाशयों की अत्यंत विकसित प्रणाली मिली है, जिसमें वर्षाजल तथा मौसमी जलधाराओं के जल को विभिन्न जलाशयों में संग्रहित करने की व्यवस्था थी। धोलावीरा की जल-व्यवस्था विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वहाँ जल संचयन, भंडारण और वितरण को नगर की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्थित किया गया था। इससे स्पष्ट होता है कि हड़प्पा समाज जल की मौसमी उपलब्धता और उसके संरक्षण की आवश्यकता से भली-भाँति परिचित था।

हड़प्पा सभ्यता के अनेक नगरों में कुओं की उपस्थिति भी जल प्रबंधन के उन्नत ज्ञान का संकेत देती है। कुएँ घरेलू उपयोग के साथ-साथ नगरीय जीवन के लिए आवश्यक जल उपलब्ध कराने का प्रमुख साधन थे। इस प्रकार सिंधु सभ्यता में जल प्रबंधन का संबंध केवल सिंचाई से नहीं, बल्कि नगरीय स्वच्छता, पेयजल और सार्वजनिक जीवन से भी था।

मौर्यकालीन जल प्रबंधन

मौर्यकाल में कृषि और सिंचाई के विकास के साथ जल संसाधनों के प्रबंधन को अधिक व्यवस्थित रूप मिला। मौर्य प्रशासन के संबंध में उपलब्ध साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण बताते हैं कि सिंचाई के साधनों, जलाशयों और कृषि उत्पादन पर राज्य की रुचि थी। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में सिंचाई, जलाशयों और कृषि से संबंधित अनेक व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। इसमें जलाशयों, नहरों और सिंचाई-साधनों के निर्माण तथा उनके उपयोग से संबंधित नियमों का वर्णन है। इससे संकेत मिलता है कि जल संसाधन कृषि अर्थव्यवस्था के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। मौर्यकालीन जल प्रबंधन का एक प्रसिद्ध उदाहरण सुदर्शन झील है। इसका प्रारंभिक निर्माण चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में पश्चिमी भारत में उनके अधिकारी पुष्यगुप्त द्वारा कराया गया था। बाद में अशोक के शासनकाल में इसकी मरम्मत और विस्तार से संबंधित कार्य किए गए। सुदर्शन झील का इतिहास यह दर्शाता है कि जलाशय निर्माण और सिंचाई व्यवस्था में राज्य तथा स्थानीय प्रशासन की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी।

बाढ़ नियंत्रण और श्रृंगवेरपुर

प्राचीन भारत में जल प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बाढ़ नियंत्रण भी था। प्रयागराज के निकट स्थित श्रृंगवेरपुर के पुरातात्त्विक अवशेषों से एक जटिल जल-प्रबंधन प्रणाली के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। यहाँ जलाशयों और नहरनुमा संरचनाओं का ऐसा संयोजन दिखाई देता है, जिसका संबंध जल के संग्रह और नियंत्रण से जोड़ा गया है। यह प्रणाली इस बात का उदाहरण है कि प्राचीन समाज केवल पानी संग्रहित करने तक सीमित नहीं थे, बल्कि अतिरिक्त जल के नियंत्रण और उसके उपयोग की

संभावनाओं पर भी विचार करते थे। गंगा के मैदानी क्षेत्र में मौसमी बाढ़ और जल की उपलब्धता दोनों ने ऐसी प्रणालियों के विकास को प्रोत्साहित किया।

पारंपरिक जल प्रणालियों की क्षेत्रीय विविधता

भारत में जल संरक्षण की कोई एक समान प्रणाली नहीं थी। विभिन्न क्षेत्रों की भौगोलिक और जलवायवीय परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग प्रणालियाँ विकसित हुईं। प्रमुख पारंपरिक प्रणालियों में राजस्थान की खड़ीन, कुंड और नाड़ी; महाराष्ट्र की बंधारा और फड़; बिहार की आहर-पइन; हिमालय की कुल या कुहल; तमिलनाडु की एरी; केरल की सुरंगम तथा कर्नाटक की कट्टा जैसी प्रणालियाँ उल्लेखनीय हैं। इन प्रणालियों की विशेषता यह थी कि इनमें स्थानीय सामग्री और स्थानीय श्रम का उपयोग किया जाता था। इनके निर्माण और रखरखाव में कई स्थानों पर सामुदायिक भागीदारी होती थी। इस कारण जल संसाधन केवल व्यक्तिगत संपत्ति न रहकर सामुदायिक संसाधन के रूप में भी विकसित हुए।

पारंपरिक जल प्रणालियों का सामाजिक महत्त्व

पारंपरिक जल प्रणालियाँ केवल तकनीकी संरचनाएँ नहीं थीं। इनके संचालन के लिए स्थानीय नियम, जल-वितरण की परंपराएँ और सामुदायिक संस्थाएँ विकसित हुईं। अनेक ग्रामीण समाजों में जल का उपयोग कृषि, पशुपालन और घरेलू आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित किया जाता था।

इन व्यवस्थाओं में स्थानीय समुदायों की भागीदारी का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह था कि जल-स्रोतों के रखरखाव की जिम्मेदारी भी समुदाय के स्तर पर रहती थी। तालाबों की सफाई, बाँधों की मरम्मत, नहरों की देखभाल और जल-वितरण जैसी गतिविधियों में सामूहिक श्रम की भूमिका थी। किंतु यह मान लेना उचित नहीं होगा कि सभी पारंपरिक प्रणालियाँ पूर्णतः समानतामूलक थीं। सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ जल के उपयोग और नियंत्रण को भी प्रभावित कर सकती थीं। इसलिए पारंपरिक प्रणालियों का मूल्यांकन उनके तकनीकी और पर्यावरणीय गुणों के साथ-साथ उनके सामाजिक संदर्भ में भी किया जाना चाहिए।

वर्षाजल संचयन का महत्त्व

भारत की वर्षा अत्यधिक मौसमी है और देश के अधिकांश भाग में वर्षा का बड़ा हिस्सा दक्षिण-पश्चिम मानसून के कुछ महीनों में प्राप्त होता है। वर्षा की इस असमानता के कारण वर्षाजल का संग्रहण भारतीय जल प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण आधार रहा है। वर्षाजल संचयन का मूल सिद्धांत यह है कि वर्षा के दौरान उपलब्ध पानी को स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार संग्रहित किया जाए तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाए। जल का एक भाग भूमि में रिसकर भूजल भंडार को पुनर्भरित भी करता है। तालाब, कुएँ, बावड़ियाँ, जलाशय, छोटे बाँध और खेतों की मेड़ें इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इस प्रकार पारंपरिक प्रणालियाँ सतही जल के संग्रह के साथ-साथ भूजल पुनर्भरण में भी योगदान देती थीं।

हिमालयी क्षेत्र की जल संरक्षण प्रणालियाँ

हिमालयी क्षेत्र में जल संरक्षण की प्रणालियाँ मुख्यतः झरनों, हिमपिघलन और पर्वतीय धाराओं पर आधारित थीं। हिमाचल प्रदेश में कुहल या कूल जैसी पारंपरिक नहर प्रणालियाँ पहाड़ी धाराओं का पानी कृषि भूमि तक पहुँचाने के लिए उपयोग की जाती थीं। कुहल सामान्यतः पर्वतीय जलधाराओं से पानी लेकर उसे गाँवों और खेतों तक पहुँचाती थी। इन प्रणालियों के निर्माण और रखरखाव में स्थानीय समुदाय की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। पानी का वितरण भी स्थानीय नियमों के अनुसार किया जाता था।

लद्दाख में जिंग जैसी जल-संग्रह प्रणालियाँ हिमपिघलन से प्राप्त जल को संग्रहित करने के लिए उपयोग की जाती थीं। शुष्क और ठंडे पर्यावरण में जल का संरक्षण जीवन और कृषि दोनों के लिए आवश्यक था। उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों में नौला और धारा जैसी प्रणालियाँ झरनों और भूजल के

स्रोतों से जुड़ी थीं। नौला प्रायः पत्थरों से निर्मित भूमिगत या अर्ध-भूमिगत जल-स्रोत होता था, जहाँ रिसकर आने वाले जल को संग्रहित किया जाता था।

पूर्वोत्तर भारत की जल प्रणालियाँ

पूर्वोत्तर भारत में अत्यधिक वर्षा और पहाड़ी भू-आकृति ने जल प्रबंधन की विशिष्ट प्रणालियों को जन्म दिया। मेघालय में बाँस की नलियों द्वारा झरनों के जल को खेतों तक पहुँचाने की पारंपरिक तकनीक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाँस स्थानीय रूप से उपलब्ध, हल्की और अपेक्षाकृत आसानी से संसाधित होने वाली सामग्री थी। उसे खोखला करके छोटी-छोटी नालियों के रूप में उपयोग किया जाता था। कई स्तरों वाली इस प्रणाली में जल को धीरे-धीरे खेतों या पौधों तक पहुँचाया जाता था। इसे पारंपरिक सूक्ष्म-सिंचाई की एक प्रभावी तकनीक के रूप में देखा जा सकता है। नागालैंड में जाबो प्रणाली जल संरक्षण, कृषि, पशुपालन और वानिकी को एकीकृत करने वाली पारंपरिक व्यवस्था का उदाहरण है। इसमें पहाड़ी ढलानों से आने वाले पानी को नियंत्रित करते हुए कृषि भूमि और जलाशयों तक पहुँचाया जाता था। अरुणाचल प्रदेश में अपतानी समुदाय द्वारा विकसित कृषि-जल प्रबंधन प्रणालियाँ भी उल्लेखनीय हैं। इनमें जल का नियंत्रित उपयोग, कृषि और मत्स्यपालन के बीच समन्वय दिखाई देता है।

गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदान की जल प्रणालियाँ

गंगा-ब्रह्मपुत्र का मैदान नदियों और मौसमी जलधाराओं से समृद्ध है, लेकिन यहाँ बाढ़ और जलभराव भी गंभीर समस्याएँ रही हैं। इसलिए इस क्षेत्र में जल निकासी, बाढ़ नियंत्रण और सिंचाई के लिए विभिन्न प्रणालियाँ विकसित हुईं। बिहार की आहर-पइन प्रणाली इसका प्रमुख उदाहरण है। आहर सामान्यतः जल संग्रह करने वाला जलाशय था, जबकि पइन जल को खेतों तक पहुँचाने वाली नहर या जलमार्ग के रूप में कार्य करता था। इस प्रणाली में वर्षा और बाढ़ के पानी का उपयोग कृषि के लिए किया जाता था। बिहार और पूर्वी भारत में जल प्रबंधन स्थानीय समुदायों की कृषि आवश्यकताओं से निकटता से जुड़ा हुआ था। सामुदायिक श्रम और स्थानीय संस्थाओं की सहायता से जल संरचनाओं की मरम्मत और संचालन किया जाता था। असम में अहोम शासनकाल के दौरान अनेक पोखर और जलाशयों के निर्माण के प्रमाण मिलते हैं। इनका उपयोग पेयजल, घरेलू कार्यों और अन्य आवश्यकताओं के लिए किया जाता था। इस प्रकार पूर्वोत्तर में भी जल संचयन और सामुदायिक जल-स्रोतों की परंपरा विकसित हुई।

मध्य भारत और दक्कन का पठारी क्षेत्र

मध्य भारत और दक्कन के पठारी क्षेत्रों में वर्षा अपेक्षाकृत मौसमी होने के कारण छोटे बाँध, तालाब और खेत-आधारित जल संचयन प्रणालियाँ विकसित हुईं। मध्य प्रदेश में विभिन्न क्षेत्रों में खेतों की मेड़ों और छोटे जलाशयों द्वारा वर्षाजल को रोकने की परंपरा रही है। महाराष्ट्र में बंधारा और फड़ प्रणाली उल्लेखनीय हैं। बंधारा छोटे बाँध के रूप में जल को रोकने का कार्य करता था, जबकि फड़ प्रणाली में नदी या जलधारा से सिंचाई का पानी निर्धारित क्षेत्रों में बाँटा जाता था। इन प्रणालियों का महत्त्व इस बात में था कि वे स्थानीय स्तर पर सिंचाई का विस्तार करती थीं और जल को लंबे समय तक उपलब्ध रखने में सहायता करती थीं।

बुरहानपुर की भूमिगत जल प्रणाली

मध्यकालीन भारत में बुरहानपुर की जल आपूर्ति प्रणाली तकनीकी दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहाँ भूमिगत नहरों और जलमार्गों के माध्यम से जल को विभिन्न स्थानों तक पहुँचाया जाता था। इस प्रणाली को प्रायः कुंडी-भंडारा तथा भूमिगत जलवाहिकाओं से जोड़ा जाता है।

जल को गुरुत्वाकर्षण के आधार पर भूमिगत मार्गों से शहर तक पहुँचाया जाता था। मार्ग में वायु-संचार और निरीक्षण के लिए कुओं या ऊर्ध्वाधर संरचनाओं का उपयोग किया जाता था। यह प्रणाली

मध्यकालीन भारत में स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप विकसित जल-इंजीनियरी का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

राजस्थान की पारंपरिक जल प्रणालियाँ

राजस्थान भारत के सबसे शुष्क क्षेत्रों में से एक है। यहाँ वर्षा की मात्रा कम तथा अत्यधिक अनियमित है। इस कारण स्थानीय समाजों ने वर्षाजल के संग्रह और संरक्षण की अनेक प्रणालियाँ विकसित कीं। नाड़ी गाँव या बस्ती के पास बनाया गया छोटा जलाशय था, जिसमें वर्षाजल एकत्रित होता था। कुंड या कुंडी वर्षाजल को सुरक्षित रखने की अधिक संरक्षित प्रणाली थी। इसकी संरचना इस प्रकार बनाई जाती थी कि वर्षाजल एकत्रित होकर अपेक्षाकृत स्वच्छ रूप में संग्रहित रहे। पश्चिमी राजस्थान में खड़ीन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें वर्षाजल के बहाव को रोकने के लिए खेतों के निचले हिस्से में बाँधनुमा संरचना बनाई जाती है। इससे पानी कुछ समय के लिए खेत में ठहरता है और मिट्टी में नमी बढ़ती है। जल के साथ आने वाली महीन मिट्टी भी खेत में जमा होती है, जिससे कृषि उत्पादन में सहायता मिलती है।

पश्चिमी भारत की बावड़ियाँ

गुजरात और राजस्थान में बावड़ी, वाव तथा वावड़ी जल संरक्षण और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण संरचनाएँ थीं। इनमें सीढ़ियों के माध्यम से जल के स्तर तक पहुँचा जा सकता था। बावड़ियों का निर्माण केवल जल संग्रह के लिए नहीं किया जाता था। वे यात्रियों के विश्राम, सामाजिक संपर्क और धार्मिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में भी विकसित हुईं। गुजरात की रानी की वाव इस स्थापत्य परंपरा का प्रसिद्ध उदाहरण है। बावड़ियों की संरचना जल की मौसमी उपलब्धता के अनुसार बनाई जाती थी। गहरी संरचना के कारण वे अपेक्षाकृत लंबे समय तक जल उपलब्ध कराने में सक्षम होती थीं।

दिल्ली और उत्तर भारत की जल संरचनाएँ

दिल्ली में प्राचीन और मध्यकालीन काल से ही जल संग्रह की अनेक प्रणालियाँ विकसित हुईं। सूरजकुंड और हौज़-ए-शम्सी जैसे जलाशय इसके उदाहरण हैं। हौज़-ए-शम्सी का निर्माण दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में जल की आवश्यकता को पूरा करने के लिए कराया गया था। दिल्ली के मध्यकालीन शासकों ने जलाशयों, कुओं, बावड़ियों और नहरों के निर्माण पर ध्यान दिया। इन संरचनाओं का उद्देश्य बढ़ती आबादी को जल उपलब्ध कराना, सिंचाई की आवश्यकता पूरी करना और वर्षाजल का संग्रह करना था।

दक्षिण भारत की एरी प्रणाली

तमिलनाडु की एरी या टैंक प्रणाली भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण पारंपरिक सिंचाई प्रणालियों में से एक है। दक्षिण भारत में वर्षा मुख्यतः मानसूनी होती है और अनेक नदियाँ मौसमी प्रवाह वाली हैं। इसलिए छोटे-बड़े जलाशयों की श्रृंखला बनाकर वर्षाजल को संग्रहित करने की परंपरा विकसित हुई। एरी प्रणाली में एक जलाशय का अतिरिक्त पानी दूसरे जलाशय तक पहुँच सकता था। इससे जल का अधिक प्रभावी उपयोग संभव होता था। इन जलाशयों से सिंचाई के साथ-साथ भूजल पुनर्भरण में भी सहायता मिलती थी। चोल काल में दक्षिण भारत में टैंक-आधारित सिंचाई व्यवस्था का व्यापक विकास हुआ। शिलालेखों से जलाशयों, सिंचाई संरचनाओं और उनके रखरखाव से संबंधित स्थानीय संस्थाओं की जानकारी मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि जल प्रबंधन ग्रामीण प्रशासन और कृषि अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

कावेरी क्षेत्र और सिंचाई

दक्षिण भारत में नदी-आधारित सिंचाई का प्रसिद्ध उदाहरण कावेरी नदी पर निर्मित कल्लणै या ग्रैंड एनीकट है। इसका निर्माण चोल शासक करिकाल से संबंधित माना जाता है। यह संरचना कावेरी के जल को सिंचाई के लिए नियंत्रित और वितरित करने में महत्त्वपूर्ण रही। कल्लणै से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में नदी के प्रवाह को नियंत्रित करके कृषि भूमि तक पानी पहुँचाने की तकनीक

विकसित हो चुकी थी। कावेरी डेल्टा की कृषि उत्पादकता के विकास में सिंचाई प्रणालियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

महाराष्ट्र की फड़ प्रणाली

महाराष्ट्र के धुले और नासिक क्षेत्र में फड़ प्रणाली पारंपरिक सामुदायिक सिंचाई व्यवस्था का उल्लेखनीय उदाहरण है। इसमें नदी पर बनाए गए बंधारे से पानी को नहरों के माध्यम से कृषि क्षेत्रों तक पहुँचाया जाता था। इस व्यवस्था में सिंचाई के लिए निर्धारित क्षेत्रों के बीच पानी का वितरण स्थानीय नियमों के अनुसार किया जाता था। भूमि के स्वामियों और कृषक समुदाय की भूमिका जल वितरण तथा रखरखाव में महत्त्वपूर्ण थी। फड़ प्रणाली यह दिखाती है कि स्थानीय समाज तकनीकी संरचना के साथ-साथ जल वितरण की सामाजिक संस्थाओं को भी विकसित कर सकता था।

तटीय क्षेत्रों की जल प्रणालियाँ

पश्चिमी तटीय क्षेत्रों में पर्याप्त वर्षा होने के बावजूद स्थानीय भू-आकृति और जलनिकासी की परिस्थितियों के कारण जल संचयन की विशेष आवश्यकता थी। महाराष्ट्र और गुजरात में तालाब, बाँध और जलाशय इसके प्रमुख साधन थे। महाराष्ट्र के तटीय क्षेत्रों में समुद्री ज्वार और कृषि भूमि के संबंध को ध्यान में रखते हुए कुछ स्थानों पर बाँधनुमा संरचनाओं का निर्माण किया जाता था। इन्हें स्थानीय रूप से शिलोत्री जैसी प्रणालियों से जोड़ा जाता है। इनका उद्देश्य समुद्री जल के अनियंत्रित प्रवेश को रोकना तथा कृषि भूमि की रक्षा करना था।

तमिलनाडु की विविध जल-संचयन प्रणालियाँ

तमिलनाडु में एरी के अतिरिक्त छोटे जलाशयों, तालाबों और बाँधों की अनेक स्थानीय प्रणालियाँ विकसित हुईं। नदी घाटियों में जल को रोकने के लिए छोटे एनीकट बनाए जाते थे। पालार नदी क्षेत्र में भी स्थानीय स्तर पर जल संग्रह और भूजल पुनर्भरण की विभिन्न प्रणालियाँ विकसित हुईं। इनमें छोटे पोखर, जलाशय और नदी पर बने अवरोध शामिल थे। इनका उपयोग घरेलू आवश्यकताओं, पशुपालन और कृषि के लिए किया जाता था। इन प्रणालियों की उपयोगिता केवल जल संग्रह तक सीमित नहीं थी। वे बाढ़ के प्रभाव को कम करने और भूजल स्तर को बनाए रखने में भी सहायता करती थीं।

केरल और सुरंगम प्रणाली

केरल और कर्नाटक के कुछ क्षेत्रों में सुरंगम पारंपरिक जल प्राप्ति प्रणाली का उल्लेखनीय उदाहरण है। इसमें पहाड़ी ढलानों के भीतर क्षैतिज सुरंगें बनाई जाती हैं, जिनसे रिसकर आने वाला भूजल एकत्रित होता है। यह प्रणाली विशेष रूप से उन क्षेत्रों में उपयोगी रही जहाँ सतही जल की उपलब्धता सीमित थी। स्थानीय भूगर्भीय परिस्थितियों की समझ के आधार पर ऐसी सुरंगों का निर्माण किया जाता था।

द्वीपीय क्षेत्रों में जल संरक्षण

अंडमान-निकोबार तथा लक्षद्वीप जैसे द्वीपीय क्षेत्रों में मीठे पानी की उपलब्धता विशेष चुनौती रही है। द्वीपों में भूजल भंडार सीमित होने के कारण वर्षाजल संचयन का विशेष महत्त्व है। स्थानीय समुदायों द्वारा वर्षाजल को विभिन्न पात्रों और छोटे जल-स्रोतों में संग्रहित करने की परंपरा रही है। नारियल के वृक्षों और बाँस जैसी स्थानीय सामग्री का उपयोग भी जल संग्रह की कुछ स्थानीय विधियों में किया जाता था। लक्षद्वीप में कुएँ और वर्षाजल संचयन दोनों पेयजल के महत्त्वपूर्ण स्रोत रहे हैं। समुद्री जल से घिरे द्वीपों में मीठे जल के सीमित स्रोतों के कारण वर्षाजल का संरक्षण आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

पारंपरिक जल प्रणालियों की प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय पारंपरिक जल प्रणालियों में स्थानीय पर्यावरण, सामाजिक आवश्यकताओं और कृषि-आधारित जीवन-व्यवस्था के अनुरूप अनेक विशेषताएँ दिखाई देती हैं। इन प्रणालियों का विकास क्षेत्र की जलवायु, भूगोल और उपलब्ध जल-स्रोतों को ध्यान में रखकर किया जाता था।

प्रत्येक जल प्रणाली स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होती थी। विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु, वर्षा की मात्रा, स्थलाकृति और जल की उपलब्धता अलग-अलग होने के कारण वहाँ की जल-संरक्षण प्रणालियों में भी विविधता दिखाई देती है। इस प्रकार, इन प्रणालियों में स्थानीय पर्यावरण के अनुकूलन की विशेष क्षमता थी।

इन प्रणालियों के निर्माण में स्थानीय सामग्री का व्यापक उपयोग किया जाता था। पत्थर, मिट्टी, बाँस, लकड़ी तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग क्षेत्र की उपलब्धता के अनुसार किया जाता था। इससे निर्माण की लागत कम रहती थी और स्थानीय संसाधनों का प्रभावी उपयोग संभव होता था। पारंपरिक जल प्रणालियाँ सामान्यतः कम ऊर्जा पर आधारित थीं। अनेक प्रणालियों में जल के संग्रह और वितरण के लिए गुरुत्वाकर्षण तथा प्राकृतिक जल-प्रवाह का उपयोग किया जाता था। इस कारण इनके संचालन में बाहरी ऊर्जा की आवश्यकता बहुत कम होती थी।

इन जल प्रणालियों के निर्माण, संचालन और रखरखाव में स्थानीय समुदाय की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी। तालाबों, कुओं, जलाशयों और अन्य जल-स्रोतों की देखभाल सामुदायिक स्तर पर की जाती थी। इससे जल-संसाधनों के सामूहिक उपयोग और संरक्षण की भावना विकसित होती थी। तालाब और जलाशय केवल सतही जल के संग्रह तक सीमित नहीं थे, बल्कि भूजल पुनर्भरण में भी सहायक होते थे। वर्षा के जल को रोककर और धीरे-धीरे भूमि में रिसने देकर ये प्रणालियाँ भूजल स्तर को बनाए रखने में योगदान देती थीं। भारतीय पारंपरिक जल प्रणालियों का कृषि और पशुपालन से भी घनिष्ठ संबंध था। सिंचाई, पशुओं के लिए पानी तथा ग्रामीण जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन जल-स्रोतों का उपयोग किया जाता था। इस प्रकार जल-संरक्षण प्रणालियाँ स्थानीय अर्थव्यवस्था और कृषि-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण आधार थीं।

इन प्रणालियों में बाढ़ और सूखे जैसी दोनों प्रकार की जल-संबंधी समस्याओं से निपटने की क्षमता थी। कुछ प्रणालियाँ वर्षा के अतिरिक्त जल को रोककर या नियंत्रित करके बाढ़ के प्रभाव को कम करती थीं, जबकि अन्य प्रणालियाँ वर्षा के जल का संग्रह करके सूखे या वर्षा-विहीन मौसम में जल की उपलब्धता सुनिश्चित करती थीं। इस प्रकार भारतीय पारंपरिक जल प्रणालियाँ जल-संरक्षण, पर्यावरणीय संतुलन और सामुदायिक आवश्यकताओं के बीच समन्वय स्थापित करने वाली टिकाऊ व्यवस्थाएँ थीं।

पारंपरिक और आधुनिक जल प्रबंधन का संबंध

पारंपरिक जल प्रणालियों की चर्चा करते समय आधुनिक तकनीक को पूर्णतः अस्वीकार करना उचित नहीं है। आधुनिक बाँध, नहरें, पाइपलाइन, पंप और जलशोधन संयंत्र आज बड़े पैमाने पर जल आपूर्ति और सिंचाई में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समस्या तब उत्पन्न होती है जब आधुनिक प्रणालियों के विकास में स्थानीय जलचक्र और भूजल पुनर्भरण की उपेक्षा की जाती है। अत्यधिक भूजल दोहन, जलाशयों में गाद का जमाव, नदियों का प्रदूषण और पारंपरिक जल-स्रोतों का क्षरण दीर्घकालीन जल सुरक्षा को प्रभावित कर सकते हैं। इसलिए आधुनिक जल प्रबंधन और पारंपरिक ज्ञान के बीच विरोध स्थापित करने के बजाय दोनों का समन्वय अधिक उपयोगी दृष्टिकोण हो सकता है। स्थानीय तालाबों, जलाशयों और वर्षाजल संचयन प्रणालियों को आधुनिक जलशोधन, भूजल निगरानी और वैज्ञानिक जल प्रबंधन के साथ जोड़ा जा सकता है।

पारंपरिक प्रणालियों के पतन के कारण

औपनिवेशिक काल और उसके बाद आधुनिक प्रशासनिक तथा तकनीकी व्यवस्थाओं के विस्तार से कई स्थानीय जल प्रणालियों की भूमिका कम हुई। बड़े बाँधों, नलकूपों और केंद्रीकृत जलापूर्ति प्रणालियों के विस्तार ने अनेक स्थानीय जल-स्रोतों को पीछे छोड़ दिया। शहरीकरण, भूमि-उपयोग में परिवर्तन, तालाबों पर अतिक्रमण, जलाशयों में गाद भरना और सामुदायिक संस्थाओं के कमजोर होने से भी पारंपरिक प्रणालियाँ प्रभावित हुईं। विशेष रूप से भूजल के अत्यधिक दोहन ने उन क्षेत्रों

में गंभीर समस्या उत्पन्न की जहाँ जल पुनर्भरण की तुलना में जल निकासी अधिक हो गई। इस परिस्थिति में पारंपरिक जल-संचयन संरचनाओं का पुनरुद्धार उपयोगी हो सकता है।

वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता

जलवायु परिवर्तन, अनियमित मानसूनी वर्षा, भूजल स्तर में गिरावट और बढ़ती जल मांग के कारण पारंपरिक जल संरक्षण प्रणालियों की प्रासंगिकता पुनः बढ़ी है। हालाँकि केवल पारंपरिक प्रणालियों को पुनर्जीवित करना पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक क्षेत्र की वर्तमान जनसंख्या, भूमि उपयोग, जल मांग और जल गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। पुराने तालाब या कुएँ तभी प्रभावी होंगे जब उनके जलग्रहण क्षेत्र को सुरक्षित रखा जाए और उनमें प्रदूषित जल का प्रवेश न हो। वर्षाजल संचयन, तालाबों का पुनर्जीवन, जलग्रहण क्षेत्र का संरक्षण, भूजल पुनर्भरण और स्थानीय समुदायों की भागीदारी को एकीकृत करके अधिक टिकाऊ जल प्रबंधन विकसित किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत की जल संरक्षण परंपरा किसी एक काल या एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही। सिंधु सभ्यता के नगरों और धोलावीरा के जलाशयों से लेकर मौर्यकालीन सुदर्शन झील, मध्यकालीन बावड़ियों और हौज़ों, दक्षिण भारत की एरी तथा कल्लणै, बिहार की आहर-पइन और हिमालय की कुल-कुहल प्रणालियों तक जल प्रबंधन की निरंतर विकसित होती परंपरा दिखाई देती है। इन प्रणालियों का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष उनका स्थानीय पर्यावरण के साथ सामंजस्य था। जहाँ जल कम था, वहाँ वर्षाजल को सुरक्षित रखने पर बल दिया गया; जहाँ हिमपिघलन या झरनों का पानी उपलब्ध था, वहाँ उसे नियंत्रित करके कृषि तक पहुँचाया गया; और जहाँ बाढ़ की समस्या थी, वहाँ जलाशयों, नहरों और जलनिकासी प्रणालियों के माध्यम से अतिरिक्त जल को नियंत्रित किया गया। वस्तुतः भारतीय जल संरक्षण परंपरा को केवल अतीत की तकनीकी उपलब्धि के रूप में नहीं, बल्कि पर्यावरणीय अनुकूलन, सामुदायिक सहभागिता और स्थानीय संसाधन प्रबंधन के ऐतिहासिक अनुभव के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।

संदर्भ-सूची

1. बाशम, ए. एल. *द वंडर दैट वॉज़ इंडिया: अ सर्वे ऑफ द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ द इंडियन सब-कॉन्टिनेंट बिफोर द कमिंग ऑफ द मुस्लिम्स*। लंदन: सिड्गविक एंड जैक्सन, 1954।
2. कोसांबी, डी. डी. *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री*। बॉम्बे: पॉप्युलर बुक डिपो, 1956।
3. पोसेल, ग्रेगरी एल. *द इंडस सिविलाइज़ेशन: अ कंटेम्पररी पर्सपेक्टिव*। लैन्हैम: अल्टामिरा प्रेस, 2002।
4. शर्मा, आर. एस. *इंडियाज़ एंशिएंट पास्ट: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन सबकॉन्टिनेंट फ्रॉम सी.* 7000 *बीसीई टू एडी* 1200। नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005।
5. कौटिल्य। *अर्थशास्त्र*। रचनाकाल सामान्यतः ईसा-पूर्व चौथी–तीसरी शताब्दी के आसपास माना जाता है। विभिन्न प्रमाणित संस्करण।
6. मुखर्जी, आर. के. *लोकल गवर्नमेंट इन एंशिएंट इंडिया*। विभिन्न संस्करण।
7. बिष्ट, आर. एस. *धोलावीरा से संबंधित पुरातात्त्विक अध्ययन*। नई दिल्ली: भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण।
8. अग्रवाल, अनिल और सुनीता नारायण। *डाइंग विज़डम: राइज़, फॉल एंड पोटेंशियल ऑफ इंडियाज़ ट्रेडिशनल वॉटर हार्वेस्टिंग सिस्टम्स*। नई दिल्ली: सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट, 1997।
9. यूनस्को विश्व धरोहर केंद्र। *धोलावीरा: अ हड़प्पन सिटी*। पेरिस: यूनस्को विश्व धरोहर केंद्र, 2021।

10. भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण। *प्राचीन जल-संरचनाओं एवं पुरातात्त्विक स्थलों से संबंधित प्रकाशन*। नई दिल्ली: संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार।